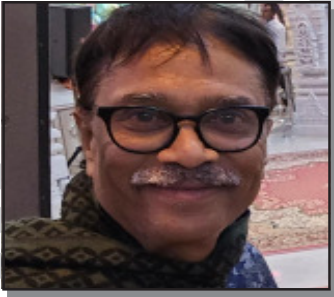


खंडित सपनों के खिलाफ



वेद प्रकाश

संपादक

‘समय संज्ञान- त्रैमासिक

103, ब्लूबेल टावर,
पैरामाउंट फ्लोराविले,
सेक्टर 137, नोएडा, गौतम बुद्ध
नगर, उत्तर प्रदेश, पिन-201305
मो. 7696075800
ईमेल ved1964@gmail.com

हमारा समय खंडित स्वप्नों का समय है। जहाँ पहले संपूर्ण मानव जाति की मुक्ति का सवाल ही विचारकों और चिंतकों के सरोकारों का विषय हुआ करता था, वहीं अब संपूर्ण मानव समाज के बजाय कुछ हाशिए के या विकास में पिछड़ गए समुदाय के सवाल सरोकारों के केंद्र में हैं।

पंद्रहवीं-सोलहवीं सदी में जब भारत में कबीर, रैदास, मीरा आदि संत सांस्कृतिक पटल पर उभरने लगे तो वे केवल ब्राह्मणों, हिंदुओं, मुस्लिमों, दलितों या स्त्रियों की मुक्ति की बात नहीं कर रहे थे, बल्कि पूरी मानवजाति को दुखों के बंधन से मुक्त कराने की बात कर रहे थे। उनके निशाने पर थे, शास्त्रबद्ध धर्म जिन्हें राजसत्ता का खुला समर्थन प्राप्त था। लेकिन पूरे हिंदू धर्म को शत्रु मानने की बजाय वे अत्याचारियों और उत्पीड़कों की पहचान कर रहे थे। इस पहचान की बुनियाद अत्याचार और उत्पीड़न थे, न कि उत्पीड़कों के धर्म, लिंग या जाति। कमोबेश यही स्थित यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन की थी, जिसने राजसत्ता

के दैवीय आधार को खिसका कर उसके स्थान पर उसके उपयोगितावादी आधार को, इहलौकिक, मानवतावादी आधार को स्थापित किया। इसी को बढ़ाते हुए तर्क और विज्ञान का उदय हुआ। उत्पीड़क जमींदारों और चर्च का विरोध कर धर्मनिरपेक्ष राजसत्ता का विकास हुआ।

मैकियावेली ने सबसे पहले राज्य की उत्पत्ति के दैवीय सिद्धांत को चुनौती दी और स्थापित किया कि राजा को कोई अलौकिक अधिकार प्राप्त नहीं होते, उसे अपनी तिकड़मों से अपनी गद्दी को हासिल करना पड़ता है और उसे बरकरार रखना पड़ता है। इसके बाद, थामस हाब्स ने मनुष्य के स्वार्थी होने का सिद्धांत पेश करते हुए एक सर्वशक्तिमान, सर्वग्रासी अतिविशालकाय प्राणी के रूप में राज्य की कल्पना की जिसे उन्होंने लेवियाथन नाम दिया, लेकिन इस सिद्धांत का महत्व भी इसी बात में था कि इसने राज्य और राजा के दैवीय सिद्धांतों को पूरी तरह उखाड़ दिया हालांकि इसने राज्य की

सर्वशक्तिमत्ता का समर्थन किया। राजनीतिक दर्शन के पटल पर इसके बाद आते हैं जान लॉक, जो अनुभववादी दर्शन की नींव रखते हैं। तत्पश्चात् रूसो, जिनके सोशल कांटेक्ट ने लोकतांत्रिक समाज का मूर्त रूप सामने रखा। इन्हीं के लगभग साथ ही आते हैं वाल्टेयर, मोंतेस्क्यू आदि जो पुनर्जागरण के पुरोधा बने। इसके साथ ही मानव चिंतन में स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के नारे ने केंद्रीय भूमिका हासिल की। इस मानवतावादी दार्शनिक परंपरा की परिणति होती है—कार्ल मार्क्स और फ्रेडरिक एंगेल्स के वैज्ञानिक समाजवाद में।

इससे पहले के दर्शनशास्त्रों और कार्ल मार्क्स के दर्शनशास्त्र में क्या फर्क था। पहला तो यह कि 'दर्शन का काम समाज की व्याख्या करना नहीं, बल्कि इसे बदलना है'। और दूसरा यह कि 'अब तक मानव समाज का ज्ञात इतिहास वर्ग संघर्षों का इतिहास है।' और भी कि 'तुम्हें खोने के लिए सिर्फ जंजीरें हैं और पाने के लिए पूरी दुनिया पड़ी है।' इन सपनों पर सवार हो कर दुनियाभर में समाजवादी आंदोलन चले। पहले विश्वयुद्ध के बाद प्रथम साम्यवादी देश सोवियत संघ की स्थापना हुई, जिसमें व्यक्तिगत संपत्ति का उन्मूलन कर सर्वहारा वर्ग की तानाशाही स्थापित हुई।

पूरी दुनिया के बुद्धिजीवी समाजवाद के समर्थक हो गए। यहां तक कि सार्त्र की कही यह बात कि 'बिना वामपंथी हुए कोई बुद्धिजीवी कैसे हो

सकता है।' लगभग सर्वस्वीकृत बात थी। पूंजीवादी समाजों में, जहां समाजवादी आंदोलन कमजोर था और सरकारी दमन प्रबल था, वहां हाशिए पर छूट गए वर्गों और समुदायों की आवाज रेखांकित करने के लिए अस्मितावादी आंदोलन शुरू हुए। शुरुआत में ये आंदोलन पुराने समाजवादी बुद्धिजीवियों द्वारा ही चलाए गए। इन आंदोलनों में सबसे प्रबल था राष्ट्र की अस्मिता का संघर्ष, जिसने जहां एक ओर साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ जनता को गोलबंद करने में, उन्हें उखाड़ फेंकने में अहम भूमिका निभाई वहीं जनता को समाजवादी आंदोलन से दूर रखने की भी पूरी कोशिशें कीं। ये कोशिशें अधिकतर जगहों पर कामयाब भी रहीं। राष्ट्रवादी आंदोलनों के फासीवाद में बदलने का खतरा होता है, जो जर्मनी और इटली में देखने को मिला, भारत में सांप्रदायिक ताकतें भी राष्ट्रवाद के झंडे तले ही अपने आंदोलन को स्वीकृति दिला पाती हैं।

अस्मितावादी संघर्षों में इसके अलावा स्त्री मुक्ति आंदोलन, भाषाई अस्मिता आंदोलन, धार्मिक अल्पसंख्यक आंदोलन और अश्वेत अस्मिता आंदोलन भी रहे। भारत के संदर्भ में अश्वेत आंदोलन के स्थान पर गैर ब्राह्मण और दलित आंदोलन रहे। इसकी शुरुआत जोतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर से होती है। इन आंदोलनों को शुरू में तो समाज-वादियों का समर्थन मिला। लेकिन जल्दी ही इनमें एक ऐसा तबका

विकसित हो गया जिसे न केवल समाजवाद के जिक्र से परहेज था, बल्कि उसके निशाने पर सीधे-सीधे समाजवादी आ गए। बल्कि स्थिति और भी विडंबनापूर्ण तब हो गई जब एक अस्मितावादी विमर्श का टकराव दूसरे अस्मितावादी विमर्श से होने लगा। भारत में हिंदूवादी अस्मितावादियों का टकराव जहां दलित अस्मितावादियों से है वहीं स्त्री अस्मितावादियों, खासकर दलित-स्त्री अस्मितावादियों का टकराव दलित अस्मितावादियों से है। कई लोगों की एक से अधिक अस्मिता भी होने लगी। जब उन्हें जरूरी लगा वे एक अस्मिता से दूसरी अस्मिता में चले जाते हैं, फिर वापस लौट आते हैं। जैसे दलित-हिंदू को यह सुविधा प्राप्त है कि वह हिंदूवादियों के बीच खुद को दलित बताए, और दलितों के बीच खुद को राष्ट्रवादी या अपनी संस्कृति से जुड़ा बताए। ठीक यही सुविधा दलित-स्त्री को भी प्राप्त है कि वह स्त्री विमर्श में खुद को दलित बताए और दलित विमर्श में खुद को स्त्री।

इन सभी अस्मितावादी विमर्शों में फिर अस्मिता के भीतर अस्मिता की आवाज उठने लगती है। स्त्रियों के बीच दलित-स्त्रियों की आवाज, दलितों के बीच वाल्मीकि-दलितों या खटिक-दलितों की आवाज, हिंदूवादियों के बीच दलित-हिंदुओं की आवाज, राष्ट्रवादियों के बीच अल्पसंख्यक-राष्ट्रवादियों या मराठी-राष्ट्रवादियों,

बिहारी-राष्ट्रवादियों की आवाज।

इन सभी अस्मितावादी विमर्शों में एक और दिलचस्प बात देखने में आती है कि एक छोटा-सा तबका पूरे समुदाय का स्वघोषित प्रवक्ता बन बैठता है। जो जितना उग्र या हिंसक होता है, इलैक्ट्रॉनिक मीडिया की कृपा से उतना ही लोकप्रिय हो जाता है। फिर धीरे-धीरे पूरे समुदाय को धकिया कर उसके सारे संसाधनों पर खुद कब्जा कर लेता है। वह वर्ग पूरे समाज के प्रति अपने पिछड़े होने को जितने उग्र रूप से मनवाता है उतने ही उग्र रूप से अपने समुदाय के पिछड़े लोगों का दमन भी करता है।

अस्मितावादी विमर्श की क्या कसौटी हो? इसका आम जन के मुक्ति संग्राम से क्या रिश्ता हो? ये अहम प्रश्न उठाते हुए पुरुषोत्तम अग्रवाल कहते हैं—“सामाजिक अस्मिता का विमर्श वहां तक निश्चित ही मुक्तिपरक है, जहां तक वह अस्मिता विशेष के उत्पीड़न को व्यवस्था मात्र के प्रसंग में रेखांकित करता है। लेकिन क्या वह तब भी मुक्तिपरक ही रहता है, जब कि— “अस्मिता विमर्श” को “व्यवस्था विमर्श” का पूरक और सहायक नहीं, बल्कि विकल्प बना दिया जाए! यह स्थिति उत्पन्न कर दी जाए कि ‘व्यवस्था’ की चर्चा करना तक ‘पॉलिटिकली इन-करेक्ट’ लगने लगे! बोध विश्लेषण की कोटि के रूप में “व्यवस्था” को धकिया कर, सिर्फ और सिर्फ अस्मिता को पधरा दिया जाए।”

पिछले दो दशकों से यही हो रहा

है। इस देश के बहुजन समाज के सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न के खिलाफ, उनकी मुक्ति का जो संघर्ष महात्मा जोतिबा फुले और डॉ. आंबेडकर ने शुरू किया था, जिसे दलित पैंथर और कांशी राम ने आगे बढ़ाया, वह क्योंकर जातिवादी संघर्ष में बदल गया। कैसे जाति के विनाश की जगह अपनी-अपनी जातियों को मजबूत करना इसका लक्ष्य बन गया। यही स्थिति सभी अस्मितावादी विमर्शों की हुई।

ऐसा नहीं है कि अस्मितावादी आंदोलनों की संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों की आलोचना न हुई हो, पर अधिकांश बुद्धिजीवियों ने इससे परहेज ही किया। क्योंकि डर था कि कहीं उन्हें हिंदू विरोधी, दलित विरोधी या स्त्री विरोधी न मान लिया जाए। यानी कि न चाहते हुए भी अस्मितावादी समुदायों का नेतृत्व अपनी संकीर्णतावादी प्रवृत्तियों के बावजूद लोकवृत्त में अपने-अपने वर्गों का प्रवक्ता बना रहा।

मेरी जानकारी में, दलित विमर्श में उभरती संकीर्णतावादी और स्त्री विरोधी प्रवृत्तियों की सबसे पहले सार्वजनिक आलोचना पुरुषोत्तम अग्रवाल ने की। उन्होंने अपने तद्भव के लेख “अकबर नाम लेता है खुदा का।।” में इन प्रवृत्तियों की कड़ी आलोचना तो की ही, इन आंदोलनों की सार्वभौमिक बहुजन आंदोलन के प्रति वितृष्णा को भी रेखांकित किया। दलित विरोधी होने का ठप्पा लग जाने का जोखिम उठाते हुए। जातिवाद

का विरोध करने के लिए यह कतई जरूरी नहीं है कि आप सार्वभौमिक बहुजन संघर्ष के भी खिलाफ हो जाएं। बल्कि जातिभेद का तो विकल्प ही सामाजिक जनतंत्र है। वे दलित अस्मितावादी विमर्श के स्वयंभू प्रवक्ताओं को डॉ. आंबेडकर की याद दिलाते हैं— “याद रखना चाहिए कि डॉ. आंबेडकर जाति व्यवस्था का प्रतिपक्ष सामाजिक, जनतंत्र, सोशल, डेमोक्रेसी को मानते थे। राजनैतिक जनतंत्र और सामाजिक जनतंत्र के बीच बिल्कुल ठीक फर्क करते हुए वे राजनीतिक जनतंत्र को सामाजिक जनतंत्र स्थापित करने का साधन मानते थे।”²

डॉ. आंबेडकर के पूरे चिंतन में ये स्वतंत्रता, समानता और भाईचारा के आदर्श अंतर्धारा की तरह, एक कसौटी की तरह, हर जगह मौजूद हैं। वह ‘जातिप्रथा का उन्मूलन’ हो, या ‘हिंदुत्व का दर्शन’, ‘बुद्ध अथवा कार्ल मार्क्स’ हो या ‘रानाडे, गांधी और जिन्ना’। डॉ. आंबेडकर अछूतों समेत बहुजन समाज के हितों के लिए लड़े और सार्वभौमिक बहुजन समाज का सवाल कभी अपनी आंख से ओझल नहीं होने दिया। वे अपने सुप्रसिद्ध भाषण ‘जातिप्रथा-उन्मूलन’ में कहते हैं “आपसे यह अवश्य पूछा जा सकता है कि यदि आप जाति के विरुद्ध हैं, तो आपके विचार से आदर्श समाज किसे कहा जा सकता है? अगर आप मुझसे पूछें तो मेरा आदर्श एक ऐसा समाज होगा, जो स्वाधीनता, समानता और भाईचारे पर आधारित हो।”³

डॉ. आंबेडकर की स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे की दृष्टि को ही डॉ. तेज सिंह, थामस मैथ्यू, आनंद तेलतुंबड़े और कंवल भारती आदि लेखक आगे बढ़ा रहे हैं। अस्मितावादी विमर्श की सीमाओं का विरोध डॉ. आंबेडकर ने तो किया ही था, विख्यात साहित्यकार रवींद्रनाथ टैगोर ने भी किया था। अपने राष्ट्रवाद शीर्षक भाषण में वे कहते हैं— “राष्ट्र के उदय के दौरान भाईचारे की नैतिक संस्कृति भौगोलिक सीमाओं में कैद हो कर रह गई। उस समय ये सीमाएं वास्तविक थी, लेकिन आज काल्पनिक हैं।”⁴ उन्होंने गांधीजी के विरोध करने का जोखिम उठाकर भी ‘राष्ट्रवाद’ की सोच की सीमाएं स्पष्ट कीं।

दिलचस्प बात है कि रवींद्रनाथ टैगोर भी डॉ. आंबेडकर की तरह भारत की मुख्य समस्या सामाजिक समस्या को मानते थे। इसी भाषण की शुरुआत करते हुए वे कहते हैं— “भारत में हमारी असली समस्या राजनीतिक नहीं है, सामाजिक है।”⁵ फिर भी भारत में राष्ट्रवाद की खूब धूम हुई, सामाजिक सवाल उठाने वालों को भुला दिया गया। जबकि भारत की समस्या सामाजिक पुनर्निर्माण की है, लोकतांत्रिक आधार पर समाज का पुनर्निर्माण। एक समय समझा जाता था कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण होगा, जातिवाद और सांप्रदायिकता जैसी समस्याएँ खुद-ब-खुद दूर हो जाएँगी। विडंबना है कि औद्योगीकरण के विकास से इन्होंने खाद-पानी हासिल कर अब विकराल रूप धारण कर

लिया है।

लेकिन सामाजिक आंदोलनों को चलाने वालों में सामाजिक पुनर्गठन की मांग करने वाले डॉ. आंबेडकर की उपेक्षा जारी है। हालाँकि आजकल दलित वोट बैंक के चलते कोई भी राजनीतिक दल आंबेडकर को सीधे-सीधे गरियाने का जोखिम नहीं उठाना चाहता, फिर भी गाहे-बेगाहे उनके मुख से आंबेडकर के प्रति हिकारत जाहिर हो ही जाती है। भारतीय जनता पार्टी के अरुण शौरी का डॉ. आंबेडकर को ‘मिथ्या भगवान’ कहना तो फिर भी समझ आ सकता है (वर्शिपिंग फाल्स गॉड) क्योंकि डॉ. आंबेडकर ने पिछले करीब 2 हजार साल के मनुराज को समाप्त कर कानून का राज स्थापित कर दिया था। बेशक इसके पीछे भारतीय जनता की अभूतपूर्व और महान कुर्बानियाँ थीं, लेकिन इसकी अग्रिम पंक्ति में अन्यो के साथ निश्चित ही डॉ. आंबेडकर भी थे, और चूँकि वे अछूत वर्ग से आते थे, इसलिए क्रोध का निशाना भी वही बने। वे अरुण शौरी के क्रोध का निशाना इसलिए बने कि उन्होंने अरुण शौरी की ब्राह्मणवादी समाजनीति पर मर्मांतक चोट की थी। इसलिए उनका गुस्सा तो समझ आता है पर कम्युनिस्ट मुप्पाला रंगानायकम्मा का आंबेडकर को ‘एक दिग्भ्रमित बुद्धिजीवी’ कहना समझ नहीं आता।⁶ ज्यादा दुखद बात तो यह है कि कम्युनिस्टों की ओर से रंगानायकम्मा को कोई जवाब नहीं दिया गया। रंगानायकम्मा की किताब

का शीर्षक है— “‘जाति’ प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफी नहीं, आंबेडकर भी काफी नहीं, मार्क्स जरूरी हैं।” इस पूरी किताब में वे लगभग अरुण शौरी की सी सपाट बयानी शैली में डॉ. आंबेडकर की निंदा करती हैं, 25 सौ वर्ष पुराने बुद्ध की मार्क्स से तुलना कर उन्हें नाकाफी ठहराती हैं। बुद्ध और डॉ. आंबेडकर की निंदा करते हुए मार्क्सवादी रंगानायकम्मा को कहीं यह जरूरी नहीं लगता कि वे ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण पद्धति को अपनाएं।

अगर आज समग्र मानव समाज के सपने के स्थान पर विभिन्न अस्मिताओं के स्वप्न प्रबल हो उठे हैं तो समग्र मानव समाज का स्वप्न देखने वाले बुद्धिजीवियों और चिंतकों को अपने गिरेबान में भी झाँक कर देखना चाहिए कि उनका अपना व्यवहार और सोच इसके लिए कहाँ तक जिम्मेवार है।

समग्र मानव समाज की बराबरी का कोई भी सपना सोच की स्वतंत्रता से हो कर ही गुजरेगा। और मानव के स्वतंत्र चिंतन का सबसे पुराना उल्लेख हमें ‘केसमुत्ति सुत्त’ में दिखाई पड़ता है। जिसमें बुद्ध कालामों को संबोधित करते हुए कहते हैं— “हे कालामो! आओ, तुम किसी बात का केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि यह अनुश्रुत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह बात परंपरागत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह हमारे धर्मग्रंथ के अनुकूल है, केवल

इसलिए मत स्वीकार करो कि यह तर्कसम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि यह अनुमान-सम्मत है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि इसके कारणों की सावधानीपूर्वक परीक्षा कर ली गई है, केवल इसलिए स्वीकार मत करो कि कहने वाले का व्यक्तित्व भव्य (आकर्षक) है, केवल इसलिए मत स्वीकार करो कि कहने वाला श्रमण हमारा पूज्य है। हे कालामो! जब तुम स्वानुभव से अपने आप ही यह जानो कि ये बातें अकुशल हैं, ये बातें सदोष हैं, ये बातें विज्ञ पुरुषों द्वारा निंदित हैं, इन बातों पर चलने से अहित होता है, दुःख होता है—तब हे कालामो! तुम उन बातों को छोड़ दो।”

मनोविश्लेषक एरिक फ्रॉम कहते हैं—“जहां यह सच है कि बौद्ध धर्म 25 सौ सालों से अपनी मौजूदगी में एक हद तक विकृत हुआ है और उपरोक्त बताई हुई बुराइयां बौद्ध धर्म के एक या अनेक संप्रदायों में आ गई हैं वहीं यह भी सच है कि बुद्ध के मूल उपदेश इन विचारों के पूरी तरह विरुद्ध हैं।”...“बौद्ध धर्म में केवल एक ही जड़सूत्रवादी बात है और वह है पुनर्जन्म में विश्वास।” लेकिन इसका “बौद्ध धर्म की केंद्रीय शिक्षा से कोई लेना देना नहीं है।” क्योंकि “चार आर्य सत्य और सम्यक आचरण के अष्टांग मार्ग के लिए पुनर्जन्म की मान्यता की कोई आवश्यकता नहीं है। वे अपनी सत्यता को इस धर्म सिद्धांत के बिना भी साबित करते हैं।”⁷⁸

एरिक फ्रॉम के अनुसार—“बौद्ध धर्म आज के एक औसत ‘प्रगतिशील’ पाठक से उल्लेखनीय रूप से अधिक आमूल परिवर्तनवादी है। बुद्ध ईश्वर को नकारकर, व्यक्ति को उसके कार्यों के लिए पूरी तरह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी ठहराकर, उसे सभी प्रकार की मिथ्या दृष्टियों से वंचित कर, वर्ग और राष्ट्र की सभी निष्ठाओं से बढ कर और सच की साझी निष्ठा पर पहुंचकर आमूल परिवर्तनवाद की जिस ऊंचाई तक पहुंचते हैं उस पर आज के अधिकांश मूलगामी विचारकों में से केवल कुछ ही पहुंचेंगे।”⁷⁹

जब मानव की हैसियत उसके मानव होने के बजाय उसकी सामाजिक स्थिति के आधार पर निर्धारित होती है तो यह एक ऐसी सामाजिक चेतना है जो अन्यायपूर्ण और असमानतावादी व्यवस्था को बरकरार रखने में मददगार होती है। इस चेतना को अधिरचना का सवाल कह कर टाला नहीं जा सकता। इसका उस विचारधारा से भी गहरा संबंध है, जिसके महत्व को मिथ्या चेतना कह कर नकारा जाता है। भारत के संदर्भ में इस विचारधारा के महत्व की गहरी परख और उसकी कड़ी आलोचना डॉ.आंबेडकर के साहित्य में मिलती है। वह सामाजिक चेतना मदद दे। इसीलिए डॉ.आंबेडकर के साहित्य में जहां एक ओर ‘स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे’ की दृष्टि मिलती है, वहीं ब्राह्मणवादी विचारधारा का कड़ा प्रतिवाद भी मिलता है। यही कड़ा प्रतिवाद उनसे कहलवाता है “मैं हिंदू धर्म में पैदा हुआ, यह मेरे

बस में नहीं था, पर मैं इस धर्म में मरूंगा नहीं।” और यही प्रतिवाद उन्हें बौद्ध धर्म की ओर ले जाता है। बौद्ध धर्म ने इस असमानतावादी ब्राह्मणवाद का गहरा और व्यापक प्रतिवाद किया है। बौद्ध धर्म में जाने से पहले वे बौद्ध धर्म के साथ-साथ अन्य धर्मों की भी पड़ताल करते हैं और पाते हैं कि जातिवादी उत्पीड़न के विरुद्ध जितना गहरा प्रतिवाद बौद्ध धर्म में मिलता है, उतना अन्य धर्मों में नहीं। दूसरे बौद्ध धर्म का स्वतंत्र चिंतन और लोकतंत्र (गणराज्य) के प्रति आग्रह भी उन्हें बहुत आकर्षित करता है।

हमारे देश में लोकतांत्रिक समाज के निर्माण में जातिभेद सबसे बड़ा बाधक है। और इसी जातिभेद का एक रूप सांप्रदायिकता है। इसलिए जातिभेद से टकराए बिना कोई चारा नहीं। जातिभेद की परिघटना को पुरुषोत्तम अग्रवाल इन प्रकार सूत्रबद्ध करते हैं “लेकिन भारतीय जातिवाद की विशेषता क्या है? वर्तमान व्यवस्था के साथ उसका अंतस्संबंध किस प्रकार का है? पितृसत्ता और मर्दवाद से उसका क्या रिश्ता है? भारतीय संस्कृति की संरचना से जाति व्यवस्था का क्या संबंध है? वास्तविक जाति विरोधी विमर्श का निस्तार नहीं इन सवालों से टकराए बिना। भारतीय समाज में आप चाहे वर्ग संबंधों की बात करें, चाहे सामाजिक अस्मिताओं की जाति के विशिष्ट रूप और ‘सार्वभौम’ के साथ उसके संबंध को समझने का प्रयास तो करना ही पड़ेगा।”¹⁰

लेकिन इसके साथ यह भी सही है कि जातिवाद से लड़े बिना समाजवाद नहीं आ सकता। जो लोग यह सोचते हैं कि पहले समाजवाद ले आएँ, जातिभेद अपने आप खत्म हो जाएगा, वे मुगालते में हैं। बिना जातिभेद से संघर्ष किए सर्वहारा वर्ग की मानसिकता का ही निर्माण नहीं होगा। भारत का सर्वहारा वर्ग जातियों में बँटा है, ब्राह्मण सर्वहारा के हित दलित सर्वहारा के हितों से टकराते हैं। भारत के मार्क्सवादियों को इस समस्या से टकराना पड़ता है, पर वे इससे कतरा कर निकल जाते हैं। दरअसल भारत का बहुजन समाज आशंकित है।

यह समाजवादियों का काम है कि वे बहुजन समाज की आशंकाओं को दूर करें। उनकी आशंका है कि क्रांति के बाद भी उनके साथ समानता का व्यवहार नहीं होगा। खुद डॉ. आंबेडकर ने यह आशंका व्यक्ति की थी—“क्रांति का नेतृत्व करने वाले किसी समाजवादी का यह आश्वासन कि मैं जातिप्रथा में विश्वास नहीं करता, मेरे विचार में काफी नहीं है। आश्वासन ऐसा होना चाहिए जिसकी गहरी बुनियाद हो, अर्थात् एक देशवासी का मानसिक व्यवहार दूसरे के प्रति व्यक्तिगत समानता और भाईचारे की भावना से भरा हो। क्या यह कहा जा सकता है कि भारत का सर्वहारा वर्ग गरीब होने के नाते गरीब होते हुए भी गरीब और अमीर के अंतर के अलावा कोई दूसरा अंतर नहीं मानता? क्या यह कहा जा सकता है कि भारत के गरीब लोग जातियाँ, नस्ल, ऊँच या नीच के ऐसे भेदों को नहीं मानते?

यदि यह सच्चाई यह है कि वे मानते हैं तो इस प्रकार के सर्वहारा से अमीरों के विरुद्ध कार्यवाही करने में किस एकता की अपेक्षा की जा सकती है? यदि सर्वहारा वर्ग संगठित रूप में मोर्चा नहीं बनाता तो क्रांति कैसे हो सकती है? तर्क के लिए मान लिया जाए कि सौभाग्य से क्रांति हो जाती है और समाजवादी सत्ता में आ जाते हैं तो क्या उन्हें उन समस्याओं से नहीं निपटना होगा जो भारत में प्रचलित विशेष सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न हुई हैं? मैं नहीं समझता कि उन पक्षपातों द्वारा उत्पन्न समस्याओं का सामना किए बिना जो भारतीय लोगों में ऊँच-नीच, स्वच्छ-अस्वच्छ के भेदभाव पैदा करती हैं, भारत में कोई भी सामाजिक राज्य एक सैकंड भी कैसे कार्य कर सकता है।”¹¹

लेकिन भारत के मार्क्सवादियों ने जातिप्रथा के खिलाफ कभी संघर्ष नहीं चलाया। डॉ. तेज सिंह के शब्दों में बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों की कसक यों फूट पड़ती है—“इस हिंदू साम्राज्यवाद के खिलाफ वामपंथियों ने कभी संघर्ष नहीं चलाया। उनके राजनीतिक संघर्ष में सामंतवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद तो है लेकिन इन सबसे गठबंधन करके सत्ता, सिर्फ राजनीतिक ही नहीं, सामाजिक-आर्थिक सत्ता भी, पर काबिज होने वाला ब्राह्मणवाद उनकी आँखों से हमेशा ही ओझल रहता है। जातिवादी समाज-व्यवस्था को सामंती-अर्द्ध-सामंती अवशेष बताकर ब्राह्मणवाद को हाशिए पर डाल देना हिंदू साम्राज्यवाद को ही मजबूत करना है

...वामपंथी ताकतों ने बाहरी साम्राज्यवाद के खिलाफ तो संघर्ष चलाया लेकिन अंदर के साम्राज्यवाद यानी हिंदू साम्राज्यवाद के खिलाफ कोई संघर्ष नहीं चलाया। यही वजह है कि अधिकांश वामपंथियों के अंदर अभी भी ब्राह्मणवाद घर बसाए हुए है।”¹²

जहाँ एक और मार्क्सवादी अपनी जिम्मेवारी से बचते रहे हैं, वहीं बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों में एक ऐसा तबका भी विकसित हो गया है जो समाजवाद के नाम से ही परहेज करते हैं। अपने चिंतन में वे स्त्रीविरोधी, मार्क्सविरोधी रूख अपनाते हैं। ऐसे तबकों की कड़ी आलोचना खुद बहुजन समाज के बुद्धिजीवियों ने की है और लगातार कर रहे हैं।

मार्क्सवादियों के सामने सबसे पहला सवाल जाति की परिघटना का ऐतिहासिक भौतिकवादी विश्लेषण करने का है। साथ ही इन सवालों कि—क्या जातिवाद प्राचीन काल से आज तक जस-का-तस बना हुआ है? क्या उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है? उत्पादन की जिस प्रणाली से जातिभेद उपजा था, क्या वह तब से अब तक यथावत बनी हुई है? निश्चय ही नहीं। विभिन्न उत्पादन प्रणालियों के समय जातिभेद ने कैसे-कैसे रूप बदले। इसी प्रकार उत्पादन प्रणाली की शासक वर्गीय चेतना के रूप में जाति ने कैसे-कैसे रूप बदलें के जवाब भी दिए जाने हैं।

जातिवाद का विकल्प निश्चित ही लोकतांत्रिक समाज हो सकता है। और कोई भी लोकतांत्रिक समाज

जाति जैसी परिघटनाओं के साथ जिंदा नहीं रह सकता। पूरी तरह लोकतांत्रिक समाज के लिए उसका वर्गहीन और शोषणमुक्त समाज होना भी जरूरी है। इसीलिए डॉ. तेज सिंह जाति से लड़ने को ठीक ही सच्चे लोकतंत्र की बुनियादी जरूरत मानते हैं—“अगर जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना करनी है तो हमें जाति आधारित समाज-व्यवस्था का समर्थन करने वाले ब्राह्मणवाद और उसका पोषण करने वाले सामंतवाद को जड़ से खत्म करना होगा तथा जनवादी और लोकतांत्रिक मूल्यों और अधिकारों से वंचित करने वाली पूंजीवादी-व्यवस्था और उसकी विजय का गौरवगान करने वाली साम्राज्यवादी ताकतों के विरुद्ध लंबा संघर्ष करना होगा।”¹³

जातिवाद से लड़ने के लिए उसकी सही व्याख्या करने की जरूरत है। अगर हम सही व्याख्या नहीं प्रस्तुत करते तो शत्रुओं की व्याख्या प्रचलित रहेगी और शत्रुओं की व्याख्या यह है कि जातिहीन-वर्गहीन समाज का सपना सफल नहीं हो सकता, इसीलिए जातिवादी, पूंजीवादी, साम्राज्यवादी शक्तियां यह कहती हैं कि जातिवाद को कभी खत्म नहीं किया जा सकता। वे कहते हैं कि जब बुद्ध, कबीर, फुले और आंबेडकर की कोशिशें असफल हो गईं और जाति खत्म नहीं हुई तो आप क्या कर सकते हैं। और अगर जाति खत्म नहीं हो सकती तो इसके खिलाफ संघर्ष करने का क्या फायदा है। यही बात सोवियत संघ में

समाजवाद के टूट जाने के बाद समाजवाद के बारे में कही गई थी कि अब सोवियत संघ में समाजवाद असफल हो गया है और पूंजीवाद जीत गया। अब उसके खिलाफ संघर्ष करने का क्या फायदा है। इसका जवाब देते हुए प्रो. रणधीर सिंह ने जोरदार शब्दों में कहा—“समाजवाद भले ही असफल हो गया हो पर अगर मानवजाति को बचाना है और आदमी को इंसान की तरह जीना है तो समाजवाद ही विकल्प है।”¹⁴ इसी को आगे बढ़ाते हुए कहा जा सकता है कि जातिहीन समाज का संघर्ष भले ही असफल रहा हो, अगर मानवजाति को बचाना है और आदमी को इंसान की तरह जीना है, तो जातिहीन समाज ही विकल्प है। जातिहीन समाज ही वर्गहीन समाज हो सकता है।

संदर्भ

1. पुरुषोत्तम अग्रवाल, तद्भव, अप्रैल 2003, पृ. 52
2. पुरुषोत्तम अग्रवाल, उपरोक्त, पृ. 54
3. डॉ. आंबेडकर, बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर संपूर्ण वाङ्मय, खंड 1, अप्रैल 1993, पृ. 78
4. रवींद्र नाथ टैगोर, भारत में राष्ट्रवाद, ‘मार्डन इंडियन थॉट’ में संकलित, सं. डॉ. आनंद प्रकाश, वर्ल्डव्यू पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2006, पृ. 10
5. रवींद्रनाथ टैगोर, उक्त, पृ. 8
6. रंगानायकम्मा, ‘जाति’ प्रश्न के समाधान के लिए बुद्ध काफी नहीं, आंबेडकर भी काफी नहीं, मार्क्स जरूरी हैं, राहुल फाउंडेशन, लखनऊ, प्रथम संस्करण, जनवरी, 2008, पृ. 476
7. अंगुत्तर निकाय, भाग 1, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, द्वितीय संस्करण, 2005, पृ. 195

हरिश कुमार की कविता संघर्ष



एक संघर्ष जो दस्तूर चल रहा है
कल उनकी बारी थी
आज भी उन्हीं की बारी है
हम लड़े-भिड़े, गिरे-संभले
फिर उठे फिर लड़े-लड़ते रहे
हार फिर भी नहीं मानी है
सभ्यता गई, मान प्रतिष्ठा गई
शिक्षा गई उन्नति गई
हम बने दिन-दिन गुलाम
कुछ समझे, कुछ न समझे
जो समझे फिर से उठे खड़े हुए
हूँकार भरी ललकारें दिए
हार फिर भी नहीं मानी है
कल उनकी बारी थी
आज भी उन्हीं की बारी है।

8. एरिक फ्रॉम, <http://www.erich-fromm.de/biophil/en/images/stories/pdf-Dateien/2009a-1975-e.pdf>
9. -वही-
10. पुरुषोत्तम अग्रवाल, उपरोक्त, पृ. 51
11. डॉ. आंबेडकर, उपरोक्त, पृ. 65
12. डॉ. तेज सिंह, दलित समाज और संस्कृति, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 32-33
13. डॉ. तेज सिंह, दलित समाज और संस्कृति, आधार प्रकाशन, पंचकूला, प्रथम संस्करण 2007, पृ. 123
14. प्रो. रणधीर सिंह, समाजवाद का भविष्य, पत्रिका इतिहास बोध, इलाहाबाद, फरवरी 2008, पृ. 10